International Journal of Humanities and Social Science Research
ISSN: 2455-2070; Impact Factor: RJIF 5.22
Received: 21-01-2019; Accepted: 25-02-2019
www.socialsciencejournal.in
Volume 5; Issue 2; March 2019; Page No. 136-139

भारतीय राजनीति में गणतंत्र के उनहत्तर वर्ष : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० राकेश रंजन
एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना, बिहार, भारत।

सारांश
प्रस्तुत शोध पत्र 'भारतीय राजनीत में गणतंत्र के उनहत्तर वर्ष' के यथार्थ और मिथक को दर्शाने का प्रयास किया गया है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में ही भारत को एक ऐसा संप्रभुत्तासंपन्न, धर्मनिरपेक्ष गणराज्य बनाने का लक्ष्य साफ कर दिया गया था, जिसमें सभी नागरिकों को न्याय, बराबरी और स्वतंत्रता के साथ गरिमापूर्ण जीवन जीने के अधिकार हासिल हों। इस आलेख में संविधान की इन्हीं मूल भावनाओं के आलोक में यह जानने और समझने की कोशिश की गई है कि तय लक्ष्यों में से हम अब तक कितना हासिल कर पाए हैं और जो नहीं कर पाए, वह क्यों नहीं कर पाएं। आगे हमारी रणनीति क्या हो, कैसे हमारी कमियां दूर हों और कैसे हम एक ऐसे बहुमुखी विकास की ओर अग्रसर हों।

मूल शब्द : भारतीय संविधान, लोकतांत्रिक गणराज्य, आर्थिक विकास, साक्षरता, नक्सलवाद।

प्रस्तावना
वास्तव में देखा जाए तो उनहत्तर साल का वक्त अगर भारत–जैसे विशाल और बहुलतावादी देश के इतिहास में बहुत ज्यादा नहीं होता, तो बहुत कम भी नहीं होता है। इसलिए अब हम 'क्या पाया, क्या खोया'–इस पर पक्के तौर पर कुछ नतीजे निकालने की स्थिति में आ चुके हैं। शुरुआत यदि पॉजिटिव नोट से करें तो यह कबूल करना होगा कि कई गंभीर चिंताओं के बावजूद बीते उनहत्तर साल में देश के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक वातावरण में आमूलचूल परिवर्तन हुए हैं। मंजिल तो अभी बहुत दूर है, लेकिन इस दिशा में भारत के कदम मजबूती से बढ़े हैं, जिनके दम पर आज भारत दुनिया की प्रमुख उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं और सामाजों में शामिल हो गया है।[1] ज्ञान–विज्ञान और प्रतिभा के मामले में भारत दुनिया के पटल पर तेजी से अपनी जगह बना रहा है। खासकर सूचना प्रौद्योगिकी और अभियांत्रिकी के क्षेत्र में आज समूची दुनिया भारत का लोहा मान रही है। भारत दुनिया के गिने–चुने परमाणु–शक्ति–सम्पन्न राष्ट्रों में से हैं। और अब तो भारतीय वैज्ञानिक चांद तक भी पहुंच चुके हैं। आज दुनिया हमारी बदौलत जान रही है कि चांद की चट्टानों में भी पानी के अंश हैं।

इन उनहत्तर वर्षों में हमारा लोकतंत्र भी मजबूत हुआ है और संविधान में व्यक्त भावना के अनुरूप देश को एक संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए हमने कई ऐसे कदम उठाए हैं, जिनसे लोगों में समानता और आत्मसम्मान की भावना पैदा हो।[2] आज लोगों में इस बात का भरोसा जगा है कि देश के सभी नागरिकों को समान अधिकार हासिल हैं और यही वजह है कि जहां भी उन्हें लगता है कि उन्हें उनके अधिकारों का फायदा नहीं मिल रहा या फिर किसी भी रूप में उनके मौलिक अधिकारों का हनन हो रहा है, तो वे इसके खिलाफ आवाज उठाते हैं और अदालतों का दरवाजा खटखटाते हैं।

संविधान में सभी नागरिकों को दिए गए समानता के अधिकार का ही नतीजा है कि आज तमाम तबकों से लोग आगे आ रहे हैं और सर्वोच्च पदों पर आसीन हो रहे हैं। चाहे देश के सर्वोच्च संवैधानिक पद राष्ट्रपति का पद हो या उपराष्ट्रपति या फिर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का पद–अल्पसंख्यकों और वंचित तबकों के लोगों का भी उन तक पहुंचना इस बात को साबित करता है कि भारतीय गणतंत्र अपने नागरिकों को बराबरी दिलाने की दिशा में मजबूती से आगे बढ़ा है।[3] लोगों की आबादी के हिसाब से सत्ता और व्यवस्था में उनकी भागीदारी के अनुपात पर सवाल उठाया जा सकता है, लेकिन तमाम विरोधाभासों के बावजूद अगर अलग–अलग भाषाओं, धर्मों, जातियों और क्षेत्रों के लोग इकट्ठा होकर देश के विकास के लिए एकजुटता से काम कर रहे हैं तो यह हमारी बड़ी उपलब्धियों में से एक है।

पिछले उनहत्तर वर्षों से भारतीय गणतंत्र जिस तरह से लोगों को सोचने–विचारने और लिखने–बोलने की स्वतंत्रता देने में कामयाब रहा है, वह बेमिसाल है। आपातकाल के दौर को छोड़ दिया जाए तो आज अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मामले में हमारे देश का रिकॉर्ड दुनिया के किसी दूसरे देश से कमतर नहीं है समाज के वंचित लोग पूरे भरोसे के साथ अपनी आवाजें बुलंद कर रहे हैं। कोई भी व्यक्ति सत्ता और व्यवस्था की आलोचना कर सकता है। विरोध–प्रदर्शन कर सकता है, इंसाफ के लिए अदालतों का दरवाजा खटखटा सकता है। दूर–दराज के इलाकों में आर्थिक और सामाजिक रूप से कमजोर लोगों की थोड़ी दिक्कतें जरूर पेश आती है, लेकिन आम तौर पर कानून उनके साथ ही खड़ा होता है। जहां तक हमारे लोकतंत्र के चौथे खंभे यानी मीडिया का सवाल है तो उसे भी यथोचित स्वतंत्रता हासिल है। अगर कोई मीडिया समूह किसी खास मुद्दे पर तटस्थ नहीं दिखता है या पक्षपाती प्रतीत होता है तो यह उसकी अपनी अंदरूनी कमजोरी है, न कि लोकतंत्र की या व्यवस्था की। लोकतंत्र से उसे इतनी सत्ता और स्वतंत्रता मिली हुई कि वह चाहे किसी भी मुद्दे पर सरकार या विपक्ष से न सिर्फ असहमति का रूख अपना सकता है, बल्कि उसकी भरपूर निंदा भी कर सकता है और उसके खिलाफ एकजुट होने के लिए लोगों से अपील कर सकता है।[4] हाल ही में जनता को सूचना का अधिकार दिया जाना हमारे लोकतंत्र को मजबूत करने की दिशा में एक और अहम कदम है।[5]

स्पष्ट है कि संविधान में किए गए इंतजामों की बदौलत देश पिछले उनहत्तर साल में विकास के पहिए पर सवार होकर हर क्षेत्र में आगे बढ़ा है। बिजली और सड़कों की पहुंच बड़ी संख्या में गांवों तक हो चुकी है। अमूमन हर इलाके में उद्योग–धंधे पहले

की तुलना में बढ़े हैं और संपन्नता के चिन्ह अब जगह–जगह दिखाई देने लगे हैं। विगत एक साल की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के दौरान भारत ने साबित कर दिया कि उसकी अर्थव्यवस्था की बुनियाद दुनिया के कई मजबूत माने जाने वाले देशों से कहीं ज्यादा पुख्ता है। भारत की अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंध अनुसंधान परिषद के एक अध्ययन के अनुसार,[6] आर्थिक विकास की रफ्तार के मामले में अगर अगले दस साल में भारत चीन को भी पछाड़ दे तो हैरानी की बात नहीं। भारत का विशाल घरेलू बाजार, उन्नत तकनीक के बूते घटती उत्पादन लागत, और कृषि पैदावार बढ़ाने की रणनीति इसमें कारगर साबित हो सकती है। पिछले कुछ साल से कृषि क्षेत्र की उपेक्षा के बावजूद भारत ने जिस तरह से ऊँची विकास दर को बरकरार रखा है, उसे देखते हुए यह उम्मीद की जा रही है कि अगर कृषि पैदावार को बढ़ाया जा सके तो आने वाले वर्षों में देश की विकास दर दस फीसदी को पार कर जायेगी। विश्व बैंक ने भी कहा है कि यदि भारत इसी तरीके से आगे बढ़ता रहा, तो अगले 25 वर्षों में वह प्रति व्यक्ति आय के मामले में औद्योगीकृत देशों की श्रेणी में आ जायेगा।[7] इसका मतलब यह है कि तब भारत को कर्ज के लिए बैंक की जरूरत नहीं रहेगी। आज अमेरिका जैसा सुपर पावर भी भारत के साथ आर्थिक संबंध बढ़ाने के लिए यों ही नहीं लालायित लगता है।

इन सुनहरी तस्वीरों का मतलब यह भी नहीं है कि सब कुछ ठीक–ठाक चल रहा है। हम आगे जरूर बढ़े हैं, लेकिन अब तक वहां नहीं पहुंच पाए हैं, जहां हमें होना चाहिए था। लगातार जागरूक होती जनता की बदौलत लोकतंत्र की जड़ें जरूर मजबूत हुई हैं, लेकिन पिछले उनहत्तर साल में राजनीति लगातार विकृत होती गई है। खासकर भ्रष्टाचार, अपराधीकरण और वंशवाद ने इसे पूरी तरह से जकड़ लिया है। चुनाव से अच्छे लोग लगातार दूर होते गए हैं। प्रमुख राजनीतिक दल या तो पूंजीपतियों और बाहुबलियों को टिकट दे रहे हैं या फिर पहले से स्थापित नेताओं के नाते–रिश्तेदारों को। देश की ज्यादातर पार्टियों के प्रमुख नेतागण ने अब अपने पूरे परिवार के साथ संसद और विधानसभाओं में सीटें कब्जा कर बैठे हुए हैं। चुनाव में सांप्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद और भाई–भतीजावाद का बोलबाला है।

इधर विकास जरूर ही एक प्रमुख मुद्दा बनकर उभरा है, लेकिन राजनीति और व्यवस्था की नस–नस में फैल चुका भ्रष्टाचार इस विकास के रास्ते में भी रोड़े अटका रहा है। खुद पूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गांधी को भी कबूल करना पड़ा था कि भ्रष्टाचार की वजह से एक रूपये में सिर्फ 15 पैसा ही आम आदमी तक पहुंच पाता है।[8] राजीव गांधी के वक्त से अब तक तो हालात और भी बिगड़े हैं। आज सरकारें बनाने और गिराने के लिए पैसे का खुला खेल चलता है। आलम यह है कि नेताओं और मंत्रियों पर भ्रष्टाचार के आरोप अब जनता को तनिक भी हैरान नहीं करते। कहीं–न–कहीं लगता है कि राजनीति येन–केन–प्रकारेण अब सत्ता पर काबिज होने का हथियार और बेहिसाब संपत्ति इकट्ठा करने का धंधा बन गई है। यह भारतीय लोकतंत्र के लिए एक खतरनाक संकेत है।

चूंकि संसद और विधानसभाओं में देश के लिए सोचने वाले जन–प्रतिनिधियों की संख्या लगातार कम हुई है, इसलिए सदन में बहस का स्तर और समय भी गिरता चला गया है।[9] दुर्भाग्य से संसद और विधानसभाओं का बहुत सारा वक्त हंगामों, शोर–शराबों और कभी–कभी तो जूतम–पैजार तक में खराब हो रहा है। जाहिर है, जिन संस्थाओं की बदौलत हमारा लोकतंत्र बुलंद है, वहां राजनीति का स्तर लगातार गिरा है और जनता की चिंता करने वाले लोग लगातार कम हुए हैं।

इसी का नतीजा है कि देश को 'राजनीतिक आजादी' मिले भले 72 साल बीत चुके हैं, लेकिन 'आर्थिक–सामाजिक आजादी' का बापू का सपना अभी अधूरा है। गरीबी और भूखमरी आज इतने साल बाद भी देश के सामने सबसे गंभीर समस्या के तौर पर मुंह बाए खड़ी है। कई जानकार सकल घरेलू उत्पाद के चमकदार आंकड़ों को पूरी सच्चाई नहीं मानते। सामाजिक कार्यकर्ता वंदना शिवाव की अध्यक्षता वाली संस्था नवदान्य ट्रस्ट की एक रिपोर्ट के मुताबिक देश का हर पांचवां शख्स भूखा है। यहां 21 करोड़ से अधिक जनसंख्या को भरपेट भोजन नहीं मिल पाता है। संख्या के हिसाब से यह अफ्रिका के सबसे गरीब देशों से भी ज्यादा है। इस रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि बढ़ती महंगाई और सार्वजनिक वितरण प्रणाली में विसंगतियों की वजह से पिछले दस साल में प्रति व्यक्ति अनाज की खपत भी 34 किलो कम हो गई है। रिपोर्ट में इस बात पर हैरानी जताई गई है कि एक तरफ लोग भूखे है, दूसरी तरफ खाने–पीने की चीजों पर सरकारी सब्सिडी लगातार बढ़ रही है।[10]

भूख इसलिए है, क्योंकि गरीबी है। देश में गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले लोगों के सरकारी आंकड़े हमेशा विवादों में रहे हैं। ज्यादातर गैर–सरकारी संस्थाएं उन पर यकीन नहीं करतीं। खुद सरकार की अलग–थलग समितियों के आंकड़ों में भी विरोधाभास झलकता है। बहरहाल, अगर सौ में 25 लोग भी गरीबी रेखा के नीचे हैं तो भी देश में हर चौथे आदमी के सामने गरीबी जीवन–मरण का प्रश्न बनी हुई और यह भी अपने आप में कम भयावह नहीं है।[11] दुनिया–भर की तमाम संस्थाओं की रिपोर्ट भी हमारे देश में फैली गरीबी को रेखांकित करती रहती है। संयुक्त राष्ट्र के मानव विकास सूचकांक पर 182 देशों की सूची में भारत इस वक्त 134वें स्थान पर है और पिछले साल की तुलना में उसकी स्थिति और बिगड़ी है।

जहां बच्चों को भरपेट खाना नहीं मिल रहा है, वहां शिक्षा की बात क्या करें? देश में सभी आयु–वर्गों के करीब साढ़े तीन करोड़ बच्चे कभी स्कूल गए ही नहीं। 2001 की जनगणना के मुताबिक देश में 6 से 14 वर्ष के करीब 1.34 करोड़ बच्चे स्कूल से बाहर थे। मानव संसाधन विकास विभाग के प्रतिवेदन के अनुसार कक्षा 1 से 10 के बीच बच्चों के स्कूल छोड़ने की दर 62.68 प्रतिशत थी। इतना ही नहीं, 15 साल से कम आयु की करीब 30 लाख बच्चियां मां बन चुकी थीं।[12] साफ है कि शिक्षा के मोर्चे पर भी हमारी रफ्तार बिल्कुल संतोषजनक नहीं कही जा सकती। गौरतलब है कि साक्षरता का मतलब कोई विद्वान होना भी नहीं है। इसका मतलब सिर्फ रोजमर्रा की जरूरतों के मुताबिक लिखने–पढ़ने का बुनियादी ज्ञान–भर है। हम इक्कीसवीं सदी का चाहे जितना शोर मचा ले और महानगरीय रंगीनियों और शहरी विकास पर चाहे जितना गुमान कर लें, लेकिन व्यक्ति तक शिक्षा की रौशनी पहुंचाए। बिना लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्यास तथा प्रतिष्ठा और अवसर और बराबरी दिलाने का संविधान में लिया गया संकल्प पूरा करना संभव नहीं है।

शिक्षा और स्वास्थ्य की चर्चा के बाद अब इस तथ्य पर भी नजर दौड़ाना आवश्यक जान पड़ता है कि भारतीय गणतंत्र में कृषि की क्या स्थिति हैं? कहा जाता है कि भारत एक कृषि–प्रधान देश है। लेकिन भारत अगर सचमुच कृषि–प्रधान देश है, तो यहां किसानों की कमर क्यों टूटी हुई है? खेती–बारी का क्षेत्र क्यों लगातार उपेक्षा का शिकार हो रहा है? क्यों किसान की मकई 10 रूपये किलो भी नहीं बिकती, जबकि महानगरों में पूंजीपति उसे ही पॉपकॉर्न के रूप में 50 रूपये में 50 ग्राम बेच रहे हैं?

आज इन सवालों का जवाब आसान नहीं दिखता है। खेती लगातार महंगी होती जा रही है। महंगे होते खाद–बीज किसानों को बेहाल किये हुए हैं। सिंचाई की समुचित व्यवस्था और बिजली के अभाव की वजह से मॉनसून पर उनकी निर्भरता लगातार बनी हुई है। ज्यादातर छोटे और सीमांत किसान कर्ज में डूबे हुए हैं और लाचार होकर हर साल बड़ी संख्या में आत्महत्या

करने का मजबूर हो रहे हैं यहां उल्लेखनीय है कि सरकार की कर्ज माफी योजना के बावजूद महाराष्ट्र के विदर्भ और आंध्रप्रदेश के तेलंगाना और रायल सीमा इलाके में सन् 2009 में किसानों की आत्महत्या की खबरें इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। जाहिर है, आर्थिक उदारीकरण के दौर में कहीं–न–कहीं किसानी से जुड़ी चिंताएं हमारी प्राथमिकता से पिछड़ गई है।[13]

जहां तक भारतीय संविधान में वर्णित सामाजिक–आर्थिक समानता का सवाल है तो संविधान में बराबरी के वादे के बावजूद अब तक आर्थिक–सामाजिक बराबरी और उन्नति के मौके भूमिहीनों और आदिवासियों को नहीं मिल पाया है, जिसका विस्फोट देश के कई हिस्सों में नक्सलवादी हिंसा के तौर पर दिखाई दे रहा है। हालांकि 1967 में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी इलाके में जिस नक्सलवाद का बीज एक सामाजिक–आर्थिक समस्या की प्रतिक्रिया के तौर पर पड़ा, आज वह सिर्फ सामाजिक–आर्थिक समस्या की प्रतिक्रिया के तौर पर पड़ा[14], आज वह सिर्फ सामाजिक–आर्थिक समस्या भर नहीं रह गया है, बल्कि कानून–व्यवस्था से जुड़ी एक ऐसी गंभीर समस्या बन चुका है, जिसकी चपेट में बिहार, झारखंड, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, आंध्र प्रदेश और छत्तीसगढ़ समेत देश के तेरह राज्यों के करीब 125 जिले आ चुके हैं। पिछले सालों में भारतीय राज व्यवस्था ने लगातार इस समस्या को गंभीर होने दिया, इसीलिए आज नक्सलियों के हाथ–पांव इतने लंबे हो चुके हैं कि खुद सरकार मानती है कि इनके तार चीन तक से जुड़े हुए हैं।

स्पष्ट है कि नक्सलवाद से ऐसे राष्ट्रद्रोही तत्व भी जुड़ चुके हैं, जो अपने नापाक मंसूबों को पूरा करने के लिए भूमिहीनों और आदिवासियों को ढाल की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं। वैसे भी चाहे मकसद कोई भी क्यों न हो, भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में ऐसी किसी हिंसा से सहानुभूति कतई नहीं रखी जा सकती, जो बेगुनाहों की जिंदगी से सरेआम खून की होली खेलती हो। इसलिए तो बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार का कहना है कि नक्सली समस्या के समाधान के लिए जरूरत इस बात की है कि नक्सलियों से बातचीत की जाए और उन्हें मुख्यधारा में शामिल होने का मौका दिया जाए। भूमि–सुधार कानूनों को गंभीरता से लागू करके भूमिहीनों को तरक्की का मौका मुहैया कराया जाए। जहां तक जनजातियों का प्रश्न है कि तो जंगलों में रहने वाली जनजातियों को जंगल उपज पर अधिकार किया जाए। साथ ही खाद्यान्नों और खनिजों के अधिकार भी पंचायतों को दिए जाएं। खनन के लिए अमर पंचायतों को सहयोग की जरूरत पड़े, तो निजी क्षेत्र की कंपनियों की बजाय सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों को ठेका दिया जाए, ताकि स्थानीय लोगों को यह न लगे कि उनका मुनाफा चंद पूंजीपति खा रहे हैं।[15]

एक तरफ देश के अंदर नक्सलवाद को बल मिला है, तो बाहर से आतंकवाद का खतरा हमारे लोकतंत्र को चुनौती दे रहा है। पिछले उनहत्तर साल में पाकिस्तान तीन चार युद्ध छेड़ चुका है। सीधी लड़ाइयों में चूंकि वह टिकता नहीं, इसलिए बेहद शातिराना अंदाज में उसने भारत के खिलाफ लगातार एक छद्म युद्ध छेड़ रखा है। भारत के अभिन्न अंग कश्मीर को मुद्दा बनाकर वह हिंसा का ऐसा तांडव रच रहा है, जिसके जरिए उसकी मंशा न सिर्फ पूरे देश में दहशत का माहौल पैदा करने की है, बल्कि भारत को सांप्रदायिकता की आग में झोंककर इसकी एकता और अखंडता को खतरा पहुंचाने की भी है। मुंबई पर हमले के बाद से तो पाकिस्तान पूरी तरह बेनकाब हो चुका है।[16] पाक–प्रायोजित आतंकवाद के अलावा के पूर्वोत्तर के अलगाववादियों से निपटना भी भारत के लिए लगातार चुनौती बना हुआ है। जाहिर है, आने वाला वक्त आतंकवाद और उग्रवाद समेत दूसरे मुल्कों की साजिशों से निपटने में भारतीय लोकतंत्र की ताकत और इम्तहान लेगा।

आतंकवाद से लगातार जूझने और देश के धर्मनिरपेक्ष ताने–बाने पर चोट करने की तमाम बाहरी और अंदरूनी साजिशों के बावजूद यह हमारे लोकतंत्र की एक बड़ी उपलब्धि है कि हम न सिर्फ धर्मनिरपेक्षता के रास्ते पर लगातार आगे बढ़े हैं, बल्कि धीरे–धीरे कट्टरपंथियों की राजनीति भी बेनकाब हुई है। देश में सभी धर्मों के लोगों को समान अधिकार और समान मौके मिले हुए हैं। और वे सभी अलग–अलग क्षेत्रों में अपनी योग्यता के हिसाब से जगह भी पा रहे हैं। हालांकि बीते सालों में हुए कई दंगे आज भी भारतीय धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र के माथे पर कलंक की तरह चस्पा है। हम इन कलंकों को धो भी सकते थे, इन दंगा पीड़ितों का वक्त पर इंसाफ मिल जाता, लेकिन दुर्भाग्य से ज्यादातर मामलों में ऐसा नहीं हो पाया।

सच बात तो यह है कि किसी भी लोकतंत्र की मजबूती में न्याय–प्रणाली का बहुत बड़ा योगदान होता है। लोगों को जितनी जल्दी सही न्याय मिलेगा, लोकतंत्र में उनकी आस्था उतनी बढ़ेगी लेकिन दुर्भाग्य से भारतीय लोकतंत्र अब तक इस मामले में करीब–करीब नाकाम रहा है। अदालतों में मामले सालों–साल चलते हैं। इंसाफ की आस में पीढ़ियां खत्म हो जाती हैं, लेकिन इंसाफ नहीं मिलता। न्यायिक व्यवस्था मजबूत होने के बावजूद दुनिया में भारत में सबसे अधिक मामले लंबित हैं और इस कारण मामलों के निपटारे में यहां समय भी अधिक लगता है।[17]

कारण चाहे जो भी हो, लेकिन इस लेट–लतीफी के चलते ताकतवर लोगों को कानून से खेलने, सबूत मिटाने और गवाहों को तोड़ने का पर्याप्त मौका मिल जाता है, जिसकी वजह से कमजोर तबके के लोगों के आमतौर पर यही धारणा बनी है कि उन्हें अदालतों में जाकर भी इंसाफ नहीं मिलेगा। निचली अदालतों में फैला भ्रष्टाचार भी उनकी इस धारणा को बल देता है।[18] हाल के वर्षों में मीडिया के असर की वजह से कुछेक चर्चित मामलों में आए फैसलों को छोड़ दें तो इंसाफ के तराजू पर अक्सर ताकतवर लोग कमजोरों पर भारी पड़ते हैं। कई नेताओं की बेहिसाब संपत्ति और ठाट–बाट नंगी निगाहों से भी दिखाई दे जाते हैं, लेकिन उनका भ्रष्टाचार कभी साबित नहीं हो पाता। हमारी न्याय–व्यवस्था की एक और बड़ी विसंगति यह है कि एक तरफ जहां बड़ी संख्या में विचाराधीन कैदी बिना जुर्म साबित हुए लंबे समय तक जेलों में सड़ते रहते हैं, वहीं दूसरी तरफ कई मामलों में निचली अदालतों से सजायाप्ता होने के बावजूद ताकतवर लोग उपरी अदालतों में सजा पर स्टे ले लेते हैं और खुलेआम घूमते रहते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपर्युक्त बातों के अलावा भी ऐसे कई छोटे–बड़े मोर्चे हैं, जिन पर भारतीय गणतंत्र को अभी बहुत कुछ करना बाकी है। अभी देश का जो विकास दिखाई देता है, सच कहा जाए तो वह एकांगी है, क्योंकि इसमें समाज के सभी तबकों और सभी इलाकों की भागीदारी नहीं है। विकास कुछ खास इलाके, खासकर महानगरों और राजधानियों तक सिमटा हुआ है और इसका फायदा बेहद कम आबादी तक ही पहुंच सका है। तो फिर कसर कहां रह गई? हमारे संविधान–निर्माताओं की सोच में तो कोई कमी नहीं थी। उन्होंने तो एक ऐसे मुल्क का सपना देखा था, जिसमें सब बराबर हों, सबको तरक्की के समान अवसर मिलें, कोई कमजोर न रहे, सबको इंसाफ मिले। अगर आज हम इस लक्ष्य से काफी पीछे रह गए हैं तो इसके सिर्फ व्यवस्था ही नहीं, जनता भी जिम्मेदार हैं, क्योंकि लोकतंत्र में व्यवस्था बनाने और बदलने की जिम्मेदारी जनता की ही होती है। राष्ट्र निर्माण के लिए जिस किस्म की ईमानदारी और समर्पण की जरूरत होती है, उसमें कहीं–न–कही हम चूक रहे हैं।

संदर्भ

1. राय, सुसजीता, 'एक्सपेरियेन्सिंग द इंडियन डेमोक्रेटिक स्टेट', मेनस्ट्रीम (न्यू दिल्ली), वॉल्यूम 38, नं. 18, अप्रैल 24, 2010, पृ. 16–19
2. शिवाच, जे. आर. इंडियन गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स, स्टलिंग, न्यू दिल्ली, 1986, पृ. 8
3. जयाल, नीरजा गोपाल (सम्पादक), डेमोक्रेसी इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2001, पृ. 76–79
4. पूर्वोक्त
5. ब्रास, पॉल आर, 'इंडियाज डेवलपमेंट स्टेट' इन लायड आई. रूडोल्फ एण्ड जॉन कर्ट जैकब्सन (सं.), एक्सपिरियंसिंग द स्टेट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, न्यू दिल्ली, 2006, पृ. 102–106
6. भारत की अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंध अनुसंधान परिषद् का अध्ययन (2008)
7. द इंडियन एक्सप्रेस, न्यू दिल्ली, 22 अगस्त 2010
8. सिंह, महेश्वर, भारतीय लोकतंत्र : समस्या व समाधान, साहित्यागार, जयपुर, 2000, पृ. 22–28
9. पूर्वोक्त
10. नवदान्य ट्रस्ट की रिपोर्ट, 2009
11. बेती, आन्द्रे, 'पॉवर्टी एण्ड इनक्वेलिटी, इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल विकली, 18–24, अक्टूबर, 2003
12. मिश्रा, गिरीश, 'इनक्रीजिंग प्रॉसपरिटी, ग्रुप इनसिक्यूरिटी', मेनस्ट्रीम, वॉ 369, नं. 2, मार्च 8, 2008, पृ. 12
13. राय, सूरनजीता, 2010
14. मोहंती, मनोरंजन, रिवॉल्यूशनरी वायलेंस : ए स्टडी ऑफ माओइस्ट वायलेंस, स्टलिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1977, पृ. 82–85
15. राइफ, डी., 'प्रोटेक्ट द ट्राईबल पिपल टू टैकल माओईज्म', मेनस्ट्रीम, वॉ, 38, नं. 18, अप्रैल 24, 2010, पृ. 4–8
16. वर्मा, जगदीश प्रसाद, 'इस्लामिक टेररिज्म एण्ड द इंडियन एक्सपेरियंस' साउथ एशिया पॉलिटिक्स, नई दिल्ली, वॉ 7, नं. 8, दिसम्बर 2008, पृ. 21–24
17. पालानिथुराई, जी. 'इंडियन डेमोक्रेसी : ए रिथिंकिंग' साउथ एशिया पॉलिटिक्स', वॉ 6, नं. 5, सितम्बर 2007, पृ. 20–24
18. पूर्वोक्त